बाल ह्रदय की राह

अर्थात्

चन्द बातें माता-पिताओं के लिए

❑ सुभाष गाताड़े

प्रिय मित्र

बड़े लाड़ प्यार से पाली आप की सन्तान अब स्कूल नामक उस जगह की दहलीज पर खड़ी है जिसे आप कब के लांघ चुके हैं।

मुमकिन है कि आप में से कईयों के लिए वह जगह आज भी एक सपना बनी हुई हो जहां की तमाम खट्टी मीठी यादों की दुनिया की ओर आप बार-बार लौट जाना चाहते हों या कईयों के लिए एक ऐसा समय जिसे आप बिल्कुल भूल जाना चाहते हों, जब पहली बार आप को यह महसूस हुआ हो कि आप को आप की इच्छा के बिल्कुल विरुद्ध, आप के रोने पीटने की चिंता किए बिना आप के माता-पिता, दादा-दादी या नाना-नानी एक ऐसे जेल में छोड़ आए जहां डरावने लगने वाले अक्षरों या रहस्यमयी लगने वाले आंकड़ों ने या कहानी की चुड़ैल या राक्षस की तरह लगने वाली मास्टरनी या मास्टर ने डण्डा दिखा कर आपको चुप कराया हो। यह भी संभव है कि आप में से कईयों को स्कूल की शक्ल कभी देखना नसीब नहीं हुआ हो और तितलियों के पीछे दौड़ने या पोशमपा-पोशमपा खेलने के समय में या अ से अनार लिखने के समय में ही र से रोटी का आपका सफर शुरू हुआ हो।

बहरहाल हमारी इस गुफ्तगू के लिए इस बात से विशेष फर्क नहीं पड़ता कि आप स्कूल जा पाए थे या नहीं। अच्छा रहता कि आप भी स्कूल जा पाए होते, लेकिन हम इसके पीछे आपकी मजबूरियां समझ रहे हैं। वैसे स्कूल जा पाए या नहीं मगर फिर भी स्कूल के बारे में आप की एक निश्चित सोच तो अवश्य होगी जो आसपास के पढ़े-लिखे लोगों के जरिए आप तक पहुंची होगी, लिहाजा हम बस इतना जानना चाह रहे हैं कि शिक्षा या पढ़ना-लिखना सीखना इस बात से आपके क्या तात्पर्य हैं?

ज्ञान अर्थात् सूचनाएं ठूंसी तोप ?

अगर आप यह सोचते हों कि पढ़ने का मतलब ढेर सारी सूचनाओं का जो भण्डार आप के इर्द-गिर्द फैला हुआ दिखता हो जिसमें दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोतरी हो रही हो उसे किसी न किसी तरह बच्चे के दिमाग में भर देना, तब मेरे ख्याल से आप सुविख्यात जर्मन गणितज्ञ फेलिक्स क्लाईन (1849-1925) के उस कटु व्यंग्य को बिल्कुल हकीकत के तौर पर मानने के लिए चल रहे हों जो उन्होंने आज से सौ साल पहले किया था। स्कूलों की तत्कालीन शिक्षा प्रणाली (वैसे इसमें बहुत गुणात्मक बदलाव आया है यह नहीं कहा जा सकता) में छात्र की तुलना वे तोप से करते थे जिसमें दस वर्षों तक ज्ञान ठूंसा जाता है और फिर उसे दाग दिया जाता है जिसके बाद कुछ भी नहीं बचा रहता। बच्चे वर्णमाला रटने से लेकर वह सब कुछ रटते जाएं जिसे वह समझते नहीं हों या जिससे उसकी चेतना में कोई सजीव बिंब, चित्र नहीं उभरते हों या उस विषय से

संबंधित कोई बात कोई विचार नहीं उभरते हों इससे बेकार चीज क्या हो सकती है ? विचारों के स्थान पर स्मृति को रखना, परिघटनाओं का निचोड़ समझने के बजाए या उनका प्रत्यक्ष बोध पाने के स्थान पर उनके बारे में तोता रटन्त शैली में सूचनाएं, जानकारी रटते जाना या यह एक ऐसी बुराई है जो बच्चे को न केवल मन्दबुद्धि बनाती है और अंततः पढ़ने-लिखने से उसकी सारी रुचि खत्म कर देती है।

ब्राजील में जन्मे इस सदी के महान शिक्षाशास्त्री पॉलो फ्रेरा जिन्होंने प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में काफी काम किया उन्होंने भी शिक्षा के मौजूदा स्वरूप को सूचनाओं के ठूंसे जाने के रूप में देखते हुए कहा था कि शिक्षा की यह बैंकिंग अवधारणा, न केवल इस मायने में बाल मन के लिए हानिकारक है कि वह बच्चों में आलोचनात्मक चिंतन की प्रक्रिया को बाधित करती है बल्कि सामाजिक तौर पर भी इस मायने में घातक है कि वह एक ऐसी पीढ़ी को जन्म देती है जो सब कुछ चुपचाप स्वीकार कर लेती है। जाहिरा तौर पर ऐसी शिक्षा पाए बच्चे न स्वतंत्र नागरिक बन सकते हैं न अपने देश और समाज के विकास में कोई उल्लेखनीय योगदान।

खेलकूद और पढ़ाई के बीच में दीवार कहां से आई ?

कई सारे अभिभावक भले ही शिक्षा के तौर पर सूचनाओं के ठूंसे जाने से परहेज करते हों मगर उनके लिए शिक्षा एक ऐसी चीज होती है जिसे स्कूल नाम की चार दीवारी के अन्दर ही दिया जा सकता है। घर और स्कूल के बीच किसी अदृश्य चीनी दीवार के इन हिमायतियों के लिए फिर घर में एक ऐसी जगह होती है जहां बच्चे खेलते-कूदते हैं, लाड-प्यार पाते हैं, खाते-पीते हैं और अपने घरों में व्याप्त माहौल को चुपचाप जज्ब किए जाते हैं या घरों के संस्कारों को चुपचाप ग्रहण करते जाते हैं इसलिए उनका कोई विशेष प्रयास कतई नहीं दिखता कि वे भी अपने बच्चे को ढालने के लिए कष्ट उठाएं या उसके बौद्धिक विकास के लिए प्रयास करें। ऐसे अभिभावकों को यह निश्चित समझना चाहिए कि आखिर एक छोटा बच्चा जो कल तक आप के इर्दगिर्द की दुनिया तक ही सिमटा था वह आखिर स्कूल में कितने समय तक रहता है ? अभी तो उसे स्कूल नामक अजनबी जगह से परिचित होना है, नये-नये दोस्तों मित्रों से मेलजोल बढ़ाना है, कलम कैसे पकड़ी जाती है या गाने कैसे गाए जाते हैं इसको समझना है और सबसे बढ़कर घर नामक एक निहायत सुरक्षित स्थान से निकल कर समाज नामक संस्था से परिचित होना है। और आप उस छोटे से अबोध बच्चे से यह भी उम्मीद करने लगे कि वह उन चार घण्टों में सब कुछ जान पाए ताकि जब वह घर लौटे तो उसे फिर टैडी बीयर पकड़ाया जाए या टीवी का कान उमेठकर रूपहले पर्दे की मायावी दुनिया से उसे रूबरू किया जाए तो आप भारी गलती कर रहे हैं।

एक दूसरे स्तर पर यह मन:स्थिति इस बात की भी परिचायक है कि अभिभावक न केवल स्कूल और घर के बीच किसी अदृश्य चीनी दीवार को महसूस करते हैं बल्कि उनके लिए पढ़ाई लिखाई और खेल की दुनिया दो अलग-अलग दुनिया हैं जिनके बीच कोई पुल नहीं है। निश्चित तौर पर यह सोच ठीक नहीं है। जहां तक बच्चों का संबंध है उसके लिए हर गतिविधि न केवल आसपास की दुनिया को जानने-समझने का एक और यत्न होता है बल्कि वह गतिविधि उसे तभी तक आकर्षित करती है जब तक उसमें उसकी दिलचस्पी बनी रहे।

मनुष्य जैसे बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे भले ही उसके लिए मनोरंजन, ज्ञानार्जन या दैनिक जीवनयापन जैसी बातों की अहमियत भी अलग-अलग होती जाती है यहां तक कि उसके लिए अलग-अलग समयावधि, को भी मुकर्रर करता जाता हो। लेकिन जहां तक बाल जीवन का सवाल है उसमें इतनी जटिलता हम कतई नहीं पाते। पड़ौस की छोटी-सी बच्ची रुचि को मैं अक्सर देखता हूं कि घर के सामने पड़ी बालू में वह घण्टों खेलती रहती है, वह कभी कुछ किला बनाती है तो कभी घर बनाने की कोशिश करती है तो कभी उसी बालू के छोटे-छोटे गोले तैयार कर अपने 'बच्चों' के लिए खाना बनाती रहती है। दूसरी बात आपने भी हर बच्चे के साथ गौर की होगी कि वे कुछ करते हुए लगातार बोलते जाते हैं। अगर कोई साथी न भी हो तो भी उनके इस 'संवाद' को उन्हें बाधित किए बिना सुना जा सकता है। इस तरह खेलते हुए वे न केवल निर्माण की अनुभूति ग्रहण करते जाते हैं बल्कि अपने आसपास के परिवेश का अनुकरण भी करते जाते हैं। उनके इन संवादों में इन्हें महसूस किया जा सकता है।

पत्थरों के, ईंटों के छोटे-छोटे टुकड़े अपने घर में बटोर के लाने वाली या उन्हें अपने कोने में बिल्कुल सहेज कर रखने वाली नन्ही-सी तरन्नुम के लिए छोटे-छोटे पत्थर समूचे संसार की अनुभूति देने के लिए पर्याप्त हैं। उन्हें एक के पीछे एक रख कर उसकी रेलगाड़ी बन जाती है या उन्हें एक के ऊपर एक रख कर वह अपना घर बना देती है।

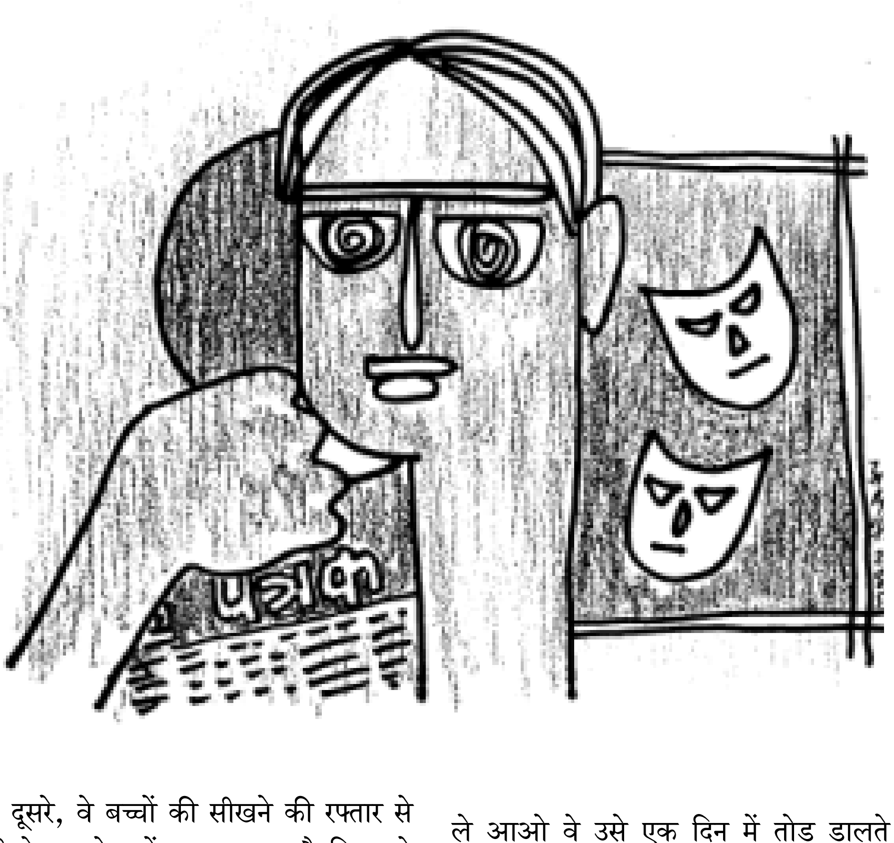
बालजीवन : जीवन के क्रियाकलापों की अविभाज्यता

माता-पिता या अध्यापक भले ही अपने वयस्क मानसिकता के चलते उसे कहते जाएं कि खेलने के वक्त खेलना और पढ़ने के वक्त पढ़ना लेकिन बाल जीवन की विशिष्टता है जीवन के तमाम क्रियाकलापों की अविभाज्यता। बच्चों में दो बातें भरपूर मात्रा में मौजूद होती हैं जिन्हें वयस्क होने की प्रक्रिया में हम खोते जाते हैं। एक होती है उनकी जिज्ञासा और दूसरी होती है उनकी कल्पनाशीलता। (क्या यह दुखद नहीं कि उसे अच्छी तरह पालने-पोसने के उपक्रम

में हम उसे अपनी तरह के उस रूखे सांचे में ढालते जाते हैं जहां अब किसी भी चीज की जिज्ञासा नहीं बची हो और कल्पनाशीलता कब की काफूर हो चुकी हो।) जिज्ञासा उसे इस बात के लिए प्रेरित करती जाती है कि वह अपने आसपास की हर चीज को जानें और चीजों को छूए बगैर या उन्हें उलट-पुलट किए बगैर या तोड़े बगैर आखिर कैसे जाना जा सकता है ? उनके लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रहती कि किस चीज की क्या उपयोगिता अर्थात् वयस्कों की नजरों में है ? उनके अन्दर मौजूद कल्पनाशीलता का प्रचण्ड उत्स उन्हें हर चीज जानने के लिए साधन मुहैया करता जाता है। जिज्ञासा और कल्पनाशीलता का मेल एक खास तरह की दृष्टि और कार्यपद्धति को जन्म देता है जिसके बलबूते वह अपने आसपास की सजीव और निर्जीव दुनिया से अपना रिश्ता बनाता है।

बच्चा, वयस्क बनाने की छटपटाहट

दुनिया को अपने तरीके से समझने की बच्चों की इस कोशिश में कई सारी बाधाएं आती हैं। उनमें एक बाधा तो स्वंय माता-पिता या उनके परिवार के अन्य वरिष्ठ लोग ही हो जाते हैं। एक तो वे इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि बच्चे कैसे सीखते हैं अर्थात् एक तो वे इस बात को नहीं जानते कि बच्चों की समस्त जीवन क्रियाओं को आप अलग-अलग नहीं बांट सकते। दूसरे, वे बच्चों की सीखने की रफ्तार से परेशान हो उठते हैं। इसी के चलते उन्हें लगता रहता है कि बच्चे खेलने के दौरान कुछ चीजें तोड़ देंगे लिहाजा वे बच्चों की हर गतिविधि का पुलिसिया अन्दाज में निरीक्षण करने में जुट जाते हैं । 'ऐसे मत करो', 'वैसे मत करो', 'चीज टूट जाएगी', अब तुम बड़े हो गए हो, इतने सारे और इतने लोगों के निर्देशों के बीच उसे सांस लेनी पड़ती है कि खेलने या उसमें रम जाने का उसका समूचा आनन्द



भी जाता रहता है। चूंकि परिवार में यह प्रवृत्ति, यह वयस्क मानसिकता बिल्कुल स्थापित सोलहों आना सच मानी जाती है। इसके चलते कई बार यह भी होता है कि उससे थोड़े से बड़े भाई या बहन से लेकर माता-पिता या दादा-दादी तक, कई बार तो एक साथ उसे तीनों पीढ़ियों के निर्देशों को सुनना पड़ता है। बच्चे को जल्द से जल्द वयस्क बनाने की उन सभी की चिंताएं उसके लिए एक दमघोंटू माहौल का निर्माण कर देती है जो बिल्कुल असहनीय हो। जर्मनी के किसी स्कूल के बारे में किए गए अध्ययन के निष्कर्ष इस मामले में हमारे लिए चौंकाने वाले हो सकते हैं। वहां पाया गया कि अध्यापक और बालक/बालिका संवाद का सत्तर प्रतिशत उन नकारात्मक किस्म के निर्देशों से बना था जिसमें उसे कहा गया था कि वो क्या न करे ! ये तो स्कूल के आंकड़े हैं लेकिन अगर हम अपने परिवार के अन्दर इस किस्म का कोई सर्वेक्षण करें या आंकड़े इकट्ठे करें तो निश्चित ही हम पाएंगे कि वयस्कों और वयस्क मानसिकता को ग्रहण किए बड़े बच्चों का छोटे बच्चों के साथ संवाद का बड़ा हिस्सा ऐसे ही नकारात्मक निर्देशों से भरा मिलेगा। कई सारे माता-पिता इस चिंता में भी दुबलाते नजर आते हैं कि उनका बेटा/बेटी बड़े शरारती हैं, कितने भी महंगे खिलौने ले आओ वे उसे एक दिन में तोड़ डालते हैं, दूसरे वे यह भी शिकायत करते दिखते हैं कि उनकी सन्तान मिट्टी में खेल कर कपड़ों को काफी गन्दा कर देती है या वह हमेशा बाहर घूमने जाने की जिद करती रहती है। यह सभी बातें या प्रौढ़ों की निगाह में यह सभी शरारतें कितनी बालसुलभ हैं या इन पर कितनी रोक लगाई जानी चाहिए इस पर आपकी क्या राय होगी ?

मेरे लिए यह सभी लक्षण इस बात की निशानी हैं कि आप के तमाम 'छिपे-अनछिपे अत्याचारों के बाद भी बच्चे का बालपन अभी भी मुरझाया नहीं जा सका है; उनके अन्दर जो प्रचण्ड जिजीविषा है उसे मिटाया नहीं जा सका है, विस्मय, कौतूहल, जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सृजनात्मकता आदि का जो अमिट उत्स उसके अन्दर बह रहा है उसे सुखाया नहीं जा सका है।

शोपीस के तौर पर बच्चे

खिलौनों के बारे में बच्चों के नजरिए को जानने के लिए कभी असमय बड़े होने का जो चश्मा आप ने पहन रखा है उसे थोड़ी देर के लिए हटाकर एक बच्चे की निगाह से उसके इर्द-गिर्द फैलने वाले खिलौनों को देखा है कभी आपने ? ये बम पिस्तौल से लेकर हवा में थोड़ी देर के लिए तैर सकने वाले हवाई जहाज या किसी यंत्रमानव जैसे महंगे खिलौने को लाने के पीछे क्या महज आप का मकसद बच्चे का मनोरंजन करना है या उसके जरिए समाज में अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना होता है, दोस्तों मित्रों के बीच आप की हैसियत का प्रदर्शन करना होता है। यह वैसा ही प्रदर्शन होता है जैसा आप उसकी बर्थ डे मनाने के लिए करते हैं। बच्चे की सालगिरह मनाने के नाम पर जो सारा तामझाम आप करते हैं वहां बच्चा महज एक शोपीस बन कर रह जाता है। उसी तरह की यह स्थिति होती है।

दरअसल बच्चे के लिए महंगे खिलौने या सस्ते खिलौने से क्या फर्क पड़ता है ? उसके लिए हर वो खिलौना बेकार है जिस पर उसका कोई बस नहीं है। चाभी भरने पर चलने वाले बन्दर को भी वह ठोक पीट कर तब तक सीधा रखने की कोशिश करता है जब तक वह चलना बन्द न कर दे। वजह यह नहीं कि वह उसको तोड़ना चाहता है बल्कि वह इस अजूबे को समझना चाह रहा है । यह जुदा बात है कि 'चलने वाले बन्दर' के रहस्य को जानने के उसके उपक्रम को वयस्कों की भाषा में 'तोड़ना' कहा जाता है। साफ बात है कि इस व्यवहार में उसके अन्दर शरारती प्रवृत्ति के प्रादुर्भाव को ढूंढ़ना या किसी विध्वंसक प्रवृत्ति को तलाशना न केवल मूर्खतापूर्ण होगा बल्कि अन्यायपूर्ण भी होगा।

माटी, बालू जैसी सभी चीजें सभी बच्चों के लिए आकर्षक जान पड़ती हैं, क्योंकि उन पर उनका 'बस' होता है। माटी को थोड़ा गीला करके वह किसी भी तरह ढाल सकता है, बालू को भी वह किसी भी आकार में ढाल सकता है। यहां तक की वह ऊब जाए तो एक दूसरे पर फेंकने का मजा भी लूट सकता है। लेकिन आप के मशीनी खिलौनों में उसको इतना आकर्षण नहीं दिखता। ऐसे किसी भी खिलौने की नवीनता उसके लिए थोड़े से समय के लिए ही बनी रहती है। बाजार से रो-धोकर, लड़-झगड़कर लाया खिलौना लाए जाने के दूसरे ही दिन घर के कोने में यतीम की तरह पड़ा मिल सकता है लेकिन माटी, बालू, पत्थर या पानी जैसे 'खेलों' की मिठास उसके लिए कभी खत्म ही नहीं होती।

दूसरी बात जो आम तौर पर इस सन्दर्भ में अनकही रह जाती है वह है, बड़ों के प्राधिकार का विरोध। आप अपनी वयस्क मानसिकता के चलते या अपनी ऊंची आवाज के चलते उसे डांट डपट कर भले ही फलां-फलां चीज न करने के बारे में उलाहना देते रहें लेकिन क्योंकि वह खुद आप के इस सुझाव से सहमत नहीं है लिहाजा उस समय भले ही मान जाए मगर ऐसी आप की समझ से इन कथित 'गन्दी' चीजों के प्रति उसका लगातार आकर्षण बना रहता है और मौका मिलते ही ऐसे 'खेलों' की तरफ भाग कर वह आप के प्राधिकार को चुनौती देता है, आप के निरंकुश रवैये का विरोध करता है। माता-पिता या बड़े जिस चीज को मना कर रहे हों उनके प्रति बच्चों का अवक्त आकर्षण बना रहता है। उस दिन की ही बात है कूड़ा इधर-उधर न फेंकने के बारे में अपने माता-पिता के निर्देशों को मानते रहने के लिए मजबूर छोटी-सी ईशा ने अपनी नन्हीं सहेली मिशा को कूड़ा कमरे में ही फेंकने को कहा। उसने बिना उत्तेजना के कह दिया, ''मां, देख नहीं रही है।''

जिस तरह खेलों में उसका मन लगा रहता है, टूटे गुड्डे या पत्थर के टुकड़े या पिचके गुब्बारे के साथ वह घण्टों खेलता रह सकता है या 'मम्मी पापा' या 'बच्चा' बने अपने दोस्तों के साथ समय बिताता है उसी प्रक्रिया को ही थोड़ा विस्तारित करके, आगे बढ़ा कर अगर यह कोशिश की जाए कि उसकी भी तर्कबुद्धि आगे बढ़े, वह आलोचनात्मक चिंतन की प्रक्रिया की ओर मुड़े तो यह कहा जाएगा कि बच्चे की शिक्षा की पद्धति का गुरूमंत्र आप को मिल गया, आपने उस चीनी दीवार को ढहा दिया जो स्कूल और घर के बीच आपने खड़ी कर दी थी।

अंकों के भूत की कहानी

सूचनाओं के ठूंसे जाने को ही ज्ञान का पर्याय समझ लेना या स्कूल और घर के बीच कोई चीनी दीवार खड़ी कर देना इसके अलावा एक तीसरी दिक्कत यह भी नजर आती है कि हम अपनी तमाम अतृप्त इच्छाओं को उस अबोध से बालक पर स्कूल के पहले दिन से ही आरोपित करते जाते हैं। अपने समूचे जीवन में हमें मिली नाकामयाबियों का सेहरा हम भले किसी के माथे न बांध सकें न उसकी सामाजिक आर्थिक जड़ों का गहराई में जाकर विश्लेषण कर सकें या अगर इन कारणों को समझ भी जाएं तो भी उनके खिलाफ लड़ने या उनको बदलने का सामर्थ्य न जुटा सकें तो भी इतना तो अवश्य हमारे बस में होता है कि हम अपनी सन्तान को 'क्या बनना चाहिए' जैसी बातें लगातार उस पर आरोपित करते रहते हैं। यह तो सोचना ही होगा कि हमें क्या अधिकार है उस

अबोध बालक के भविष्य पर अपनी दावेदारी प्रस्तुत करने का जो आज भी हमारे संरक्षण में रहने के लिए मजबूर है। उसे पहले खेलने-कूदने दीजिए, अपनी आसपास की और दूर की दुनिया को समझने दीजिए, लौकिक अर्थों में कुछ समझदार होने दीजिए और फिर यह फैसला छोड़ दीजिए उसी पर वह क्या बनना चाहता/चाहती है।

बच्चे को कुछ 'बनाने' का हमारा यह आग्रह दो जुड़े हुए तरीकों से उस पर हम लादते जाते हैं। एक तो हम पहले दिन से उसे बताते जाते हैं कि उसे 'फर्स्ट' आना है भले ही उसे इस शब्द के मायने न पता हों। उसे 'फर्स्ट' लाने की यह मानसिकता इतने विकृत रूप में हम कई बार अभिव्यक्त करते जाते हैं कि बच्चा स्कूल पूर्व समय से ही अपने ही घर में बैठा अपने ही छोटे/बड़े भाई बहनों या दोस्तों मित्रों के साथ बैठा खाने की मेज से लेकर नहाने तक 'फर्स्ट' आने की होड में जुट जाता है। उसे पहला लाने की यह मानसिकता न केवल उसको बचपन से ही किसी भी कीमत पर दूसरों से आगे रहने को ही सर्वोत्तम मानने का गुण सिखाती है। बच्चा जिसे न अपने पराए का पता है, जो न अपनी और दूसरे की वस्तु में फर्क कर पाता है जो आसपास की दुनिया को अपनी निश्चल निगाहों से देखने का अभ्यास कर रहा है, जो बिना किसी लागलपेट के भलाई-बुराई को चिह्नित करने की कोशिश कर रहा है जो अपने किसी भी हम-उम्र के साथ बिना किसी सोची हुई औपचारिकता से तुरंत घुलमिल कर खेलने लग जाता है या जिस बच्चे से झगड़ा हुआ हो या जिससे 'कट्टी' हुई हो उससे तुरंत 'अब्बा' हो जाता है। उसे हम हमारे समाज में व्याप्त उस अंधी होड से न केवल वाकिफ कराते हैं बल्कि उसमें कूदने के लिए भी कहते हैं। इस तरह बच्चे के अन्दर व्याप्त सामाजिकता या सामूहिकता की भावना का विलोपीकरण करने में और उसे निरा व्यक्तिवादी बनने की शिक्षा हम लगभग बालघूंटी के साथ देते हैं।

उसे कक्षा में 'फर्स्ट' देखने की हमारी चाहत अलग-अलग तरीकों में अभिव्यक्त होती है। उसकी रुचियों को जाने बिना या उस पर चिंतन किए बिना हमारी कोशिश यह रहती है कि लगातार कुछ सीखता जाए। हम इस बात से चिंतित हो उठते हैं कि पड़ौसी का हमउम्र बच्चा/बच्ची किस तरह फर्राटे के साथ 'पोएम' सुनाता/ती है या उसके साथ जाने वाली सामने के परिवार की छोटी बच्ची किस तरह फिल्मी गानों पर डान्स करती है। अगर हम खुदा न खास्ता किसी देशी भाषा के स्कूल से पढ़े हों जिसका 'खामियाजा' आज भी हमें भुगतना पड़ रहा हो तो हमारी यह चाहत होती है कि वह भी मुंह टेढ़ा करके बचपन से अंग्रेजी बोलना सीखे। जिन्दगी की दौड़ या इंद्रधनुष के तले रखे सोने के बर्तन के लिए समूचे समाज में मची गलाकाटू होड में बचपन में ही झोंक दिए जाने से उसे कभी यह पता नहीं चल पाता कि उसको वाकई में क्या अच्छा लगता है ? क्या उसे चित्रकला या संगीत जैसी चीजें या घुमकड्डी करने जैसा शौक पालने का अधिकार भी है या नहीं।

कक्षा में अव्वल लाने की यह मानसिकता एक अन्य डरावने भूत से भी बच्चों का बचपन में ही परिचय कराती है। रूस के मशहूर शिक्षाशास्त्री वसीली सुखोम्लीन्स्की जिन्होंने लगभग पैंतीस साल तक बालशिक्षा पर काम किया। इसे 'अंकों का भूत' कह कर संबोधित करते थे। ज्ञान क्या है, उसकी प्राप्ति के क्या मायने हैं यह बच्चे ने जाना नहीं कि उसको अपनी कॉपियों पर अध्यापक या अध्यापिका द्वारा लाल पेन से दिए गए अंकों से रूबरू होना पड़ता है। मां-बाप भी तभी शाबासी देते हैं या चॉकलेट आदि चीजें देकर पुरुस्कृत करते हैं जब उसकी कॉपी पर वे दस में से आठ या नौ अंक देखते हैं, यह भी वह धीरे धीरे जान जाता है। बाल आत्माओं पर यह बात भारी बोझ की तरह सालती जाती है, उन्हें विकृत करती है। अगर कम अंक मिले तो बच्चे को लगने लगता है कि उसने कोई अपराध किया हो। और फिर अंकों के भूत के प्रति विचित्र सा सम्मोहन तथा साथ-साथ जबरदस्त घृणा का एक ऐसा सिलसिला शुरू होता है जो ताउम्र उसका साथ नहीं छोड़ता। शिक्षा या ज्ञान प्राप्ति का आनंद जैसी बातें उसके लिए महज किताबों तक सीमित दिखती हैं और उसके लिए शिक्षा का मकसद अधिकाधिक अंकों को पाते जाना या दूसरे को पछाड़ते हुए आगे बढ़ते जाना होता जाता है।

मम्मी में तो सीखूंगा भाषण पिलाना

बच्चे को कुछ बनाने की हमारी लालसा बचपन से ही कुछ आदर्शों (रोल मॉडल) को उसके सामने बार-बार रख कर भी अभिव्यक्त होती है। बचपन से ही हम उसे पूछते रहते हैं या उसे दूसरों के प्रत्याशित सवाल का जवाब रटाते रहते हैं कि 'बड़े होकर तुम क्या बनोगे ?' और वह भी हमारे सिखाए जवाबों को रट लेता है 'मैं इंजिनीयर बनूंगा, या डॉक्टर बनूंगा या डी.एम. बनूंगा।' अपने बच्चे को नौकरशाही में किसी बड़े ओहदे पर देखने की हमारी अभिलाषा या उसके विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़कर कमाऊ प्रोफेशनल बनाने की हमारी ख्वाहिश में यह काबिले गौर होता है कि हममें से शायद ही कोई उसे कलाकार, संगीतकार या खिलाड़ी बनाने की बात भी करता है। ऐसा क्यों है, इस पर कभी आपने सोचा है ? दरअसल यह ज्ञान दिशा बीसवीं सदी में व्याप्त विज्ञान के बढ़ते राजनीतिक महत्त्व के कारण बनी दिखती है। तकनीक भौतिकी को शिक्षा की बुनियाद मानने का यह करिश्मा इसी सदी में संभव हुआ है। शक्ति स्रोत के रूप में विज्ञान के चरम लाभ के चलते कला और समाज संबंधी अभिरुचियां गौण हो गई हैं।

बच्चे को कुछ बनाने की हमारी ख्वाहिश को स्कूली पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला दिखता है। 'तुम बड़े होकर क्या बनोगे ?' इस विषय पर कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के स्कूलों में निबंध लिखवाए जाते हैं। गांधी, नेहरू से लेकर राज्य के चन्द नेताओं के नाम और जीवन चरित्र रट कर बच्चा भी उन्हें पेपरों में उंडेल देता है। कुल मिलाकर बच्चे को कुछ बनाने की हमारी ख्वाहिशों के चलते उसे यही जान पड़ता है कि बचपन अपने आप में कुछ नहीं। जिंदगी का अगर कोई सार है तो वह बड़े बनने में है और कुछ कर दिखाने में है। जिंदगी का एकमात्र मकसद यही है कि वह बड़ा होकर इन नेताओं या उनके विद्रूपों का अनुकरण करे। क्या यह विडम्बना नहीं कि बच्चे को जल्द से जल्द बड़ा बनाने की हमारी कोशिशों के चलते हम खुद, जो उसके सबसे बड़े हितैषी होने का मुगालता पालते हैं, वास्तविकता में उसका समूचा बचपन छीनने के अपराधी बन जाते हैं

कई बार यह बात शिद्दत से महसूस होती है कि अपने बच्चों का बचपन छीनने के इस अपराध में न केवल माता-पिता ही नहीं अध्यापक गण समेत शिक्षा संस्थान बल्कि पूरा राज्य और समूचा समाज किस तरह शामिल है। बच्चे के नैतिक, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक और सौंदर्यबोधात्मक विकास के इस समय में जबकि उसे एक समृद्ध चहुंमुखी आत्मिक जीवन भी जीना चाहिए उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया जा रहा है। विडम्बना इस बात की ज्यादा लगती है कि यही आज समाज का स्थायी दस्तूर बन गया है। ये बात राज्य के नियंताओं से लेकर समाज के निचले स्तर पर खड़े लोगों ने जज्ब कर लिया है कि यही रास्ता बालक के सर्वांगीण विकास का आदर्श रास्ता है। निश्चित तौर पर राज्य के नियंता या उनकी सेवा में तैनात बुद्धिजीवी इस धारणा की असलियत से वाकिफ हैं कि इस सर्वांगीण विकास के क्या मायने हैं ? क्या वाकई में स्कूलों में प्रदान की जा रही शिक्षा मुक्तिदायिनी है, सशक्तिकरण करने वाली है या कुल मिलाकर उसका मकसद है बच्चों का बड़े होकर एक ऐसे आज्ञाकारी, दब्बू नागरिक में रूपांतरण करना जो निरंकुशता की हद तक आगे बढ़ रहे राज्यसत्ता के सामने भी सिजदे में खड़ा रहे।

बाल जीवन में सैन्यीकरण

बच्चे को कुछ बनाने की हमारी दुश्चिंताओं के चलते अनुशासन के बारे में हम कुछ ज्यादा ही परेशान दिखते हैं। घर में बच्चे को कैसे रहना चाहिए, किस तरह बड़ों से बात करनी चाहिए या किस तरह डेढ़ इंची मुस्कान के साथ हर दूसरी बात पर 'माफ कीजिएगा' और 'धन्यवाद' की पोटली खोलते रहनी चाहिए यह सभी बातों के बारे में हम निरंतर उसको शिक्षित करते रहते हैं। बच्चों को अच्छे संस्कार दिए जाने चाहिए यह बात महज चन्द छद्म औपचारिकताओं तक सिमटी रह जाती है। ऐसे घरों में बच्चों का मिस्र के पिरामडों में विराजमान मम्मी; अलबत्ता बोलने-चालने वाली मम्मी में रूपांतरण पूरा हो जाता है। ऐसी भावनाहीन 'मम्मी' घर में मौजूद तमाम कीमती या गैर-कीमती सामानों की तरह घर को सजाने वाले सामानों की कतार में मेहमानों के आगमन पर खड़ी कर दी जाती है। कुल मिलाकर हम भावनाओं, आवेगों, कौतूहल, जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सृजनात्मकता से भरपूर या अभी भी गढ़ने की प्रक्रिया में जुटा बच्चा नहीं पाल रहे होते हैं बल्कि हम अपने खानदान की इज्जत, प्रतिष्ठा और ख्याति को मद्देनजर रखते हुए उन सबका एक वाहक तैयार कर रहे होते हैं। अगर संस्कारों के नाम पर छद्म अनुशासन की ऐसी ही घुट्टी हम पिलाते रहेंगे तो बड़े होने पर किस तरह के पूत तैयार होंगे यह तो असानी से बताया जा सकता है।

अनुशासनप्रिय बच्चों की ऐसी चाहत ही बाद में प्रख्यात शिक्षाशास्त्री कृष्णकुमार की निगाह में बाल जीवन के सैन्यीकरण की प्रक्रिया को जन्म देती है। स्कूलों में गाये जाने वाले 'नन्हे मुन्हे बच्चे हैं, दांत हमारे कच्चे हैं, हम लड़ने जाएंगे, सीने पर गोली खाएंगे', ऐसे गीतों के जरिए ही यह सैन्यीकरण की मानसिकता ज्यादा भौंडे तरीकों से आरोपित की जाती होगी लेकिन यह प्रक्रिया अन्य रूपों में भी जारी रहती है। निश्चित ही अनुशासन पर इस अतिरिक्त जोर के पीछे यह धारणा काम करती होगी कि बच्चे स्वभावत: अराजक होते हैं। लिहाजा उनकी इस कमी को दूर करने की और उन्हें 'अच्छे नागरिक' बनाने की जरूरत है। अगर यही रुख कायम रहा तो बच्चे अच्छे नागरिक क्या बनेंगे ! हां, नन्हे सैनिक अवश्य बन सकते हैं।

वैसे क्या वाकई में बच्चे अराजक होते हैं ? बच्चों के बारे में इस सच्चाई को हम बाद में परखेंगे लेकिन एक बात तो स्पष्ट है कि बड़े जो उन्हें अनुशासन सिखाने का दावा करते हैं वे खुद अवश्य ही अराजक होते हैं; किसी भी स्थान पर जाइए जहां यह पहले से तय नहीं है कि आपको फलां-फलां पंक्ति में खड़ा रहना है या उसको लागू करवाने के लिए कोई दण्डा लेकर खड़ा नहीं है तो आप थोड़ी ही देर में पाएंगे कि हर शख्स पहले आगे बढ़ने की, पहुंचने की कोशिश में जुटा है जिसका स्वाभाविक नतीजा होता है ऐसी अनियंत्रित भीड़। इसके बनिस्पत बच्चों को देखिए, उनके सामूहिक जीवन में आप खुद ब खुद एक अनुशासन पाएंगे । वे अपनी किसी भी उद्यम में, खेल में उनके साथ खड़े हर बच्चे को शामिल करने का अवश्य प्रयास करेंगे, न वे बड़ों की तरह विभिन्न किस्म की वर्गीय या अन्य किस्म की कुंठाओं से ग्रस्त होते हैं जो

चीज उन्हें अपने हमउम्रों के साथ घुलने-मिलने से रोकती है या किसी को बाहर रखने के लिए प्रेरित करती है।

अनुशासन पर वयस्कों की तरफ से इतना बड़ा जोर शायद इस वजह से प्रतीत होता है क्योंकि समाज में व्याप्त अराजकता के चलते शासन व्यवस्था के नियंताओं की तरफ से यह बात लगातार प्रचारित की जाती रहती है कि समूचे समाज में समस्याओं की जड़ लोगों के अनुशासनहीन होने में है। गोया लोग अगर वाकई में अनुशासित हो जाएंगे तो कोई जादूई छड़ी घूम जाएगी। शासन व्यवस्था के नियंताओं के इस तर्क का माता-पिताओं अर्थात् नागरिकों के द्वारा पूरी तौर पर आत्मसातीकरण का ही नतीजा होता है उनका इस पहलू पर विशेष जोर। मेरी एक दूसरी नन्हीं दोस्त तरन्नुम जब ढाई साल की उम्र में ही नर्सरी में भेज दी गई तो सबसे पहले उसको नर्सरी चलाने वालों ने यूनिफॉर्म पहना दिया। मेरे यह पूछने पर कि इसकी क्या आवश्यकता है ? क्या ये सभी छोटे-छोटे बच्चे अपने-अपने रंगबिरंगे कपड़ों में यहां नहीं पहुंच सकते। उनका सीधा सपाट-सा जवाब था स्कूल के अनुशासन में यह फिट नहीं बैठता। नन्हीं-सी तरन्नुम भी यूनिफॉर्म के जरिए अनुशासन की चक्की में जोत दी गई थी।

छांह में काम की ललक

सूचनाओं के ठूसे जाने को ज्ञान की संज्ञा देना, स्कूल और घर के बीच या खेल तथा पढ़ाई के बीच किसी अदृश्य चीनी दीवार की असलियत को मानते रहना या अनुशासन पर अतिरिक्त जोर देना या बच्चों को निरा व्यक्तिवादी बनने की घूंटी पिलाते रहना आदि समस्याओं के अलावा एक और मसला है जिस पर गौर फर्माना जरूरी है। वह मसला है शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच व्याप्त फरक या उसके बीच वर्तमान समाज में मौजूद खाई को बच्चों पर भी आरोपित करते जाना। यह हमारे समाज की एक वास्तविकता है, जो हजारों सालों के सामाजिक इतिहास के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए यहां तक पहुंची है कि शारीरिक श्रम को हेय, तिरस्करणीय माना जाता है, वह निरंतर असम्मान का पात्र होता आया है। वास्तविकता में होना यह चाहिए था कि श्रम को श्रम के तौर पर समझा जाता, फिर वह शारीरिक श्रम हो या मानसिक श्रम। लेकिन विभिन्न समाजों की बनावट ने जहां सम्पत्तिशाली, साधन-सम्पन्न लोग सत्ता केन्द्रों पर भी हावी होते आए उन्होंने समाज के नियम कानूनों को इस तरह गढ़ा कि शारीरिक श्रम से कोसों दूर खड़े लोग समाज के नियंता बन बैठे। हमारे समाज में जाति व्यवस्था के उदय ने भी इस मामले को और जटिल बनाया। यहां तो सबसे ज्यादा शारीरिक श्रम में जुटे लोग न केवल सबसे हेय बल्कि छूने योग्य भी नहीं माने गए। ज्ञान के दरवाजे तक इनके लिए बन्द कर दिए गए। समाज का नियमन करने वाली किताबों में तो जानवरों के साथ औरत और शूद्रों को भी ताडन का अधिकारी माना गया।

पेट काटकर अपने बच्चे को पढ़ा रहे साधारण मजदूर की भी आज ख्वाहिश यही रहती है कि बच्चा बड़ा होकर ऐसा कोई रोजगार करे कि ज्यादातर समय उसके लिए छांह में रहने का मौका मिले। शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच के इस काल्पनिक विभेद को माता-पिता भी बाल मन पर अंकित किए जाते हैं। यही बात फिर आगे चल कर पाठ्यक्रमों में भी दिखती है जहां इतिहास के नाम पर राजा रजवाड़ों या सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोगों का ही जिक्र होता है, किसी बादशाह के अपनी पत्नी के प्रेम में खड़े ताजमहल का तो जिक्र आता है लेकिन इस बात का कोई उल्लेख नहीं होता कि उस समय के मेहनतकशों की वास्तविक स्थिति क्या थी ?

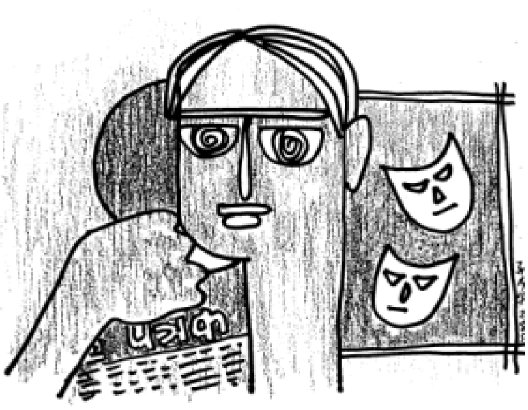
किस्सा बुद्धू के डिब्बे का

हमारे सामने घटित हो रही मीडिया क्रांति ने भी बच्चों के लालन-पालन के सवाल का भी काफी प्रभावित किया है। यह तो मानना ही होगा कि पिछली पीढ़ी की तुलना में आज के बालक का टीवी, फिल्मों या अन्य माध्यमों के जरिए समाज के बारे में ज्ञान बढ़ा है। पिछड़े गांवों से लेकर झुग्गी झोंपड़ियों तक, निम्न मध्यमवर्गीय इलाकों से अतिधनाढ्यों के इलाकों तक मीडिया क्रांति के पदचाप सुनाई दे रहे हैं। हालांकि उसमें भी फर्क है, जैसे अतिधनाढ्य या उच्च मध्यमवर्गीय परिवारों में टीवी के अलावा कम्प्यूटर के आगमन या इण्टरनेट की धूम मची है। मगर इस मीडिया क्रांति ने चौबीसों घण्टे चलने वाले विभिन्न चैनलों ने माता-पिताओं के सामने एक गंभीर चुनौती पेश की है। उसने जहां समाज में एकाकीपन बढ़ाया है, अपने टीवी से चिपकी एक पीढ़ी तैयार की है वहीं खेलों, मैदानों की ओर जाने की या कुछ गंभीर अध्ययन करने की आदत भी नहीं बनने दी है। इसके चलते समूची आबादी विशेषकर बाल किशोर आबादी के गैरसंस्कृतिकरण का खतरा प्रस्तुत हुआ है। इसके चलते भले ही आज की पीढ़ी के पास सूचनाओं का भण्डार इसके पहले की पीढ़ी से ज्यादा हो मगर विभिन्न दृकश्रव्य माध्यमों के जरिए प्रक्षेपित किए जा रहे चित्रों, मनोरंजन के 'पैकेजों' ने उसकी स्वतंत्र चिंतनशीलता को प्रभावित किया है।

एक अलग संदर्भ में, कहानियों के संदर्भ में, बाल मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का आग्रह रहता है कि बच्चों को कहानियां सुनाइए अवश्य लेकिन बहुत ज्यादा नहीं। वजह वे यही बताते हैं कि शब्दों की अतिशब्दों से हुई परितृप्ति किसी भी अन्य परितृप्ति से ज्यादा खतरनाक होती है। टीवी के संदर्भ में भी यह बात आसानी से लागू

होती है। कहानियां सुनाने से टीवी देखने का प्रभाव ज्यादा दूरगामी और ज्यादा बारीक होता जाता है। वह उस कमजोर अवस्था में बच्चे के अचेतन मन को प्रभावित करता है, जब अभी उसका मन विकास की प्रक्रिया में होता है। वह यह फर्क भी नहीं कर सकता कि टीवी के पर्दे पर आने वाले दृश्य झूठ हैं या प्रचार मात्र हैं। पुराने समय में रेडियो से निकलने वाले गाने को देखकर हैरान होने वाले या यह दावा करने वाले, बच्चे की तरह, कि रेडियो के अन्दर कोई बैठा है आज का बच्चा भी अचम्भित हो जाता है। बिना रुके चलने वाले कार्यक्रम उसको इस कदर अचम्भित रखते हैं कि वह सोचने की क्षमता को भी खोने लगता है।

तमाम माता-पिता इन माध्यमों के इन खतरनाक नतीजों से उतने वाकिफ नहीं होते। वे भी बाहर जाने के लिए जिद कर रहे या खेलने के लिए बाहर जाने के लिए बेचैन बच्चे को व्यस्त रखने के लिए टीवी के सामने बिठा देते हैं। और बच्चा बिना पलक झपकाए विज्ञापनों से लेकर फिल्मों के रोमांस को भी देखता जाता है। 'बुद्धू के डिब्बे' के सामने बिठा दिए गए ऐसे बच्चों को देखकर मुझे बरबस अफीम की फैक्ट्री के सामने बह रही नाली के सामने बैठे बन्दरों का दृश्य याद आता है। अफीम के आदी हो चुके इन बन्दरों को आप घण्टों उसी अवस्था में बैठे देख सकते हैं।



क्या आपको नहीं लगता कि आप के बच्चों की नियति भी इससे अलग हो। वे किसी मीठे जहर के आदी न बनें।

बचपन के जादूई महल के प्रवेशद्वार पर

अगर आप को अपने बच्चे को सही ढंग से ढालना है तो क्या यह ज्यादा बेहतर नहीं होगा कि आप कभी फुरसत से बैठकर अपने बचपन को जितना याद कर सकें याद कर लें और यह जानने की कोशिश करें कि आपने खुद कैसे किताबी ज्ञान या कोई हुनर हासिल किया। दोनों संभावनाए हैं, हो सकता है कि आपको आप के माता-पिता ने काफी लाड प्यार से पाला हो या आप के अपने ढेर सारे भाई-बहन होने के कारण आप उपेक्षित रह गए हों। जो भी स्थिति रही हो आप इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जो प्रक्रिया आप के साथ चली उसमें कई सारी खामियां थीं। मसलन सबसे बड़ी कमी जो आप को नजर आएगी वह आज की पहले वाली पीढ़ी में आमतौर पर व्याप्त यह धारणा कि 'बच्चे तो पल जाते हैं !' जाहिर सी बात है इस धारणा के कमोबेश हम सभी शिकार हुए हैं। यह अच्छी बात है कि अब यह धारणा टूट रही है और बाल मनोविज्ञान की खुलती परतों ने इसमें योगदान दिया है।

वैसे क्या आप अपने बचपन को याद करके बता सकते हैं कि आप ने किस दिन किस समय रंगों को पहचानना सीखा या किस दिन अक्षरों को पहचानना शुरू किया। निश्चित ही यह बताना बड़ा मुश्किल काम है। इसकी कई संभावनाएं हो सकती हैं कि कभी आप इंद्रधनुष देखकर विस्मत हो उठे हों और उसके मनोहारी रंगों को आप ने अपनी मां के मदद से जाना हो, यह भी मुमकिन है कि चिड़ियाघर में हाथी को देखकर आपने काले रंग की पहचान की हो और उसके साथ ही आपने 'काला' को लिखना भी जाना हो।

आज आपके बच्चे आपके सामने हैं। आप जैसे उन्हें ढालना चाहें वैसे ढाल सकते हैं। अगर आप उसे कूढ़मगज, किताबी कीड़ा बनाना चाहते हों, जो आगे चलकर इस शासन व्यवस्था के एक आज्ञाकारी के पुर्जे के रूप में आसानी से फिट होगा तो भी आप आजाद हैं, अगर आप अपनी तमाम कुंठाओं को उसके ऊपर लाद कर उसका बचपन उससे छीनकर उसे जल्द से जल्द वयस्क बना देना चाहते हैं तो भी आप स्वतंत्र हैं। अगर आप उसे आज ही नन्हा सैनिक बना देना चाहते हैं तो भी आप को कौन रोक सकता है। लेकिन इतना ही आगाह करना चाहूंगा कि आप किसी से उसका बचपन छीनने के एक अपराध को जानबूझकर करने जा रहे हैं। विडम्बना बस इसी बात की है कि इस अपराध की कहीं कोई सजा भी नहीं मिलने वाली। आप इस जुर्म के आरोप में समाज में सम्मानित ही किए जाएंगे।

वैसे दिल की बात मैं यही कहना चाहता हूं कि क्यों न लीक से हटकर एक नई शुरूआत करें। बाल जगत के इस अनूठे संसार की दहलीज पर जहां आप की अपनी संतान खड़ी है, बचपन के इस जादूई महल के प्रवेशद्वार पर पहरेदार बनने के बजाय क्यों न थोड़ा-थोड़ा बच्चा बन जाएं ताकि हम भी नए सिरे से जान सकें बचपन का मतलब। हम नए सिरे से जाएं बालहृदय की राह।

(नोट इस गुफ्तगू को शीर्षक देने में मैंने महान रूसी शिक्षाशास्त्रियों अन्तोन माकारेकों और वसीली सुखोम्लीन्स्की की किताबों से प्रेरणा ली है।)। ◆